गुब्बारा
विवेक मिश्र

अगस्त का आख़िरी हफ़्ता था। बारिश बहुत कम हुई थी । बादल आसमान पर ठहरे थे। बरसने के लिए उन्हें किसी ख़ास चीज़ की तलाश थी, जो शायद ज़मीन पर नहीं थी। हम उन्हें बरसने पर मजबूर नहीं कर सके थे। हाँ, उन्हीं बादलों से होती हुई कोई सूचना हमारे मोबाईल तक पहुँच सकती थी।मैं दिल्ली में था। मोबाइल की घण्टी बजी। झाँसी से भईया का फोन था । पिताजी को दिल का दौरा पड़ा था। भईया ने बताया था पिताजी कराह रहे थे, छाती पर कई मन बोझ बता रहे थे। उनके फेफड़ों में हवा नहीं जा रही थी और रह-रहकर आँखें फैल रही थीं। छाती फट पड़ने को थी जब उन्होंने मुझे ख़बर करने को कहा था। इतने दर्द में भी उनकी स्मृति में, मैं था ।

ख़बर सुनकर मेरा शरीर सूखे पत्ते -सा हवा में तैरने लगा था। शरीर का भार जाता रहा था। ज़मीन मुझे अपनी ओर नहीं खींच पा रही थी। मेरे भीतर का तरल पलभर में सूख गया था। पिताजी की गर्म लाल हथेलियाँ स्मृति से निकलकर मुझे पकड़ने को बढ़ीं, पर मुझे न छू सकीं। मेरे फेफड़ों में भी हवा नहीं घुस पा रही थी ।

मैं उसी दिन जान सका था, मेरे भीतर कितने भार में पिताजी थे, जो मेरे शरीर से निकल कर स्मृति में घुल रहे थे। मैं ख़ाली हो रहा था। बहुत हल्का, पर मैं अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पा रहा था। अनायास ही, दूर घर की चौखट से बंधी डोर टूटती-सी लग रही थी। मैं कटी पतंग-सा आसमान में गोते खा रहा था, डूब रहा था। पिताजी डोर समेट कर जा रहे थे। मुश्किल से खींची साँसों में, सफ़ेद बाँहदार बनियान से उठती पिताजी के पसीने की गन्ध घुल रही थी, कभी पत्थर के कोयले की अँगीठी पर, लोहे की कढ़ाई में पकता कठहल महकने लगता था, पिताजी कठहल बहुत अच्छा बनाते थे। वे कभी